

## I

### ‘महान खेल का सच’

चीन के साथ हमारी समस्या की जड़ें लगभग दो पहले से हैं जब जुलाई 1807 में ब्रिटिश के खिलाफ साझेदारी की एक संधि करने के लिए सम्राट नेपोलियन और जार अलेक्जेंडर पूर्वी प्रुसिया के तिलिसत में निमेन नदी पर बँधे एक विशाल बेड़े पर मिले और इस तरह “एक बड़े खेल” की शुरुआत कर दी। सबसे पहले यह अभिव्यक्ति ब्रिटिश तोप अधिकारी और दुस्साहसी आर्थर कोनोली के पत्रों में मिली जिसकी “नैरेटीव ऑफ एक ओवरलैंड जर्नी टू द नॉर्थ इंडिया” ब्रिटिश सरकार की सेवा में उन क्षेत्रों में की गयी उसकी यात्रा का उल्लेख है। जब रूसी साम्राज्य ने पूर्व में अपना विस्तार करना शुरू किया जिसका मुख्य उद्देश्य अंततः भारत पर विजय हासिल करना था उसके बाद ब्रिटिश और रूसी साम्राज्य के बीच राजनीतिक अधिपत्य के लिए अप्रत्यक्ष प्रतियोगिता आरंभ हो गयी।

नोपोलियान का वाटर लू भी उस जोश में कभी नहीं ला पाया जिसके साथ यह खेल खेला गया था। एक औपनिवेशिक साम्राज्य और एक गर्म जल के पतन के लिए रूस की महत्वाकांक्षा में कोई कमी नहीं आयी और इस तरह यह खेल जारी रहा। रूसी धमकी का जवाब देने के लिए ब्रिटिशों की योजना उत्तरी क्षेत्र में एक अग्रवर्ती प्रतिरक्षा रेखा स्थापित करने की थी ताकि रूसी हमले को हिन्दुस्तान के मैदानों तक पहुँचने से पहले अच्छी तरह रोका जा सके।

इसके फलस्वरूप अफागनिस्तान और तिब्बत का मध्यवर्ती राज्यों के रूप में जन्म और इन राज्यों के साथ अनुकूल और सुविधाजनक सीमा का निर्धारण हुआ। कई अवसरों पर ऐसी कई रेखाएँ प्रस्तावित की गयी थीं। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय भारतीय सर्वेक्षण विभाग के एक छोटे असैनिक उप-सहायक डब्लू. एच. जॉनसन द्वारा प्रस्तावित 1865 लद्दाख-तिब्बत/सिकियांग रेखा थी। इस रेखा को दक्षिण में डेमचक और उत्तर में 18,000 फीट ऊँचे काराकोरम मार्ग से जुड़ना था लेकिन, क्यून लून पर्वत के बाद इसने चक्करदार मार्ग पकड़ लिया और इस तरह बंजर एवं ठंडे अक्साई चीन मरुस्थल को समाहित कर लिया। यह माना जाता है कि ऐसा करने के पीछे जॉनसन के कुछ व्यक्तिगत कारण थे। वह भारतीय मूल का अंग्रेज था और राज के अन्तर्गत सूक्ष्म सामाजिक अनुक्रम जो एक व्यक्ति का भाग्य निर्धारित करते हैं, से संचालित था, उसकी कुछ

सीमाएँ थीं जहाँ तक वो कार्य कर सकता था। जॉनसन भारतीय भारतीय सर्वेक्षण में एक प्रशासनिक पद या उच्च नागरिक पद पाने की आकांक्षा नहीं रख सकते थे और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए काश्मीर महाराजा की सेवा में प्रवेश करने से बेहतर तरीका उनके लिए और कोई नहीं हो सकता था। अकसाई चीन को समविष्ट कर महाराजा की रियासत को वृहत रूप से बढ़ाकर जॉनसन ने महाराजा का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित किया।

जॉनसन का सर्वेक्षण निर्विवाद नहीं है। खोतान तक की मात्रा पूरी करने के लिए जो भयान क्यून लून श्रेणी के पार काफी दूर स्थित है और जितने समय में वो लेह से लौटे उतने समय में लौटने के लिए उन्हें प्रतिदिन 30 कि.मी. चलना पड़ा होगा। अगर यह उग्र वेग संभव भी हो तो इसमें संदेह है कि गंभीर सर्वेक्षण का एक कभी प्रयास सफल रहा होगा। इसके अलावा चाँदी की सिल्लियों के गायब होने का भी सवाल है जो खोतान के खान ने उसके हाथ भारत के "लार्ड साहिब" के लिए उपहार स्वरूप की सेवा में शामिल हो गया। उसने यहाँ अच्छा काम किया और लद्दाख के गवर्नर के पद पर पहुँचा गया। महाराजा को 18000 वर्ग कि.मी. निर्जन क्षेत्र देने के बदले यह पुरस्कार बहुत बुरा नहीं था।

1889 में लेह के संयुक्त सहायक नेय इलियास के प्रस्ताव से यह स्पष्ट है कि जॉनसन की रेखा के संबंध में ब्रिटिश अनिर्णय की स्थिति में थे। इलियास जो ट्रांस-काराकोरम क्षेत्र का एक अधिकारी था, लेह से लगभग 400 कि.मी. दूर काराकाश घाटी में स्थित शाहीदुल्ला पर जानसन रेखा के किसी भी निर्विवाद समर्थन के खिलाफ था। दूसरी तरफ, रूसी अन्वेषक कोल, ग्रोम्बेत्स्की के साथ कैप्टन यन्गुस्वन्द की यारकन्द के नजदीक मेजर जनरल सर जॉन आरदाग ने लन्दन के युद्ध कार्यालय में "क्यून लून श्रेणी की चोटियों तक" अधिकार करने की सिफारिश की। व्हाइटहाल के इस पर सहमत होने से पहले ही 1890 में चीन ने शाहीदुल्ला पर कब्जा कर लिया। इस पर व्हाइटहाल में भारत के राज्य सचिव की राय थी "हमारा मत है कि सबसे अधिक समझदारी, उन्हें आधिपत्य में छोड़ देने में है क्योंकि यदि काराकोरम और क्यून लून, के बीच का भू-भाग चीन जैसे एक मैत्रीपूर्ण शक्ति के अधिकार में रहता है तो इसमें स्पष्ट रूप से हमारा ही लाभ है।

अकसाई चीन या श्वेत मरुस्थल पर स्वामित्व के मामले में भारत अनिवार्य रूप से जॉनसन जैसे किसी व्यक्ति के मानचित्र संबंधी प्रयासों पर निर्भर था और हमें इसकी तार्किकता/वैधता पर सोचना जरूर शुरू करना चाहिए। यह भी कम विडंबनापूर्ण नहीं है कि काश्मीर के एक अन्य महाराज के

स्वतंत्र राज्य के महत्वाकांक्षी स्वप्न ने भारत के दूसरे पड़ोसी के साथ एक बड़ी समस्या खड़ी कर दी।

यह सच है कि जम्मू और काश्मीर एक स्वतंत्र राज्य था फिर भी 1846 ई. के अमृतसर समझौते ने ब्रिटिश सरकार को इसकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व दे दिया। इसने ब्रिटिश सरकार को सिक्किमांग और तिब्बत के साथ काश्मीर के उत्तरी और पूर्वी सीमाओं के प्रति जवाबदेह बना दिया। जो भी हो, ब्रिटिश सरकार इस रेखा के समानान्तर कभी भी सीमा निर्धारित नहीं कर सकी। 1899 में एक दूसरी रेखा का सुझाव दिया गया। यह मैक्कार्टनी-मैक्डोनाल्ड रेखा थी जिसने अकसाई चीन के बहुत से भाग को बाहर निकाल दिया था। अंग्रेजों ने इस अनुबंध पर चीन का हस्ताक्षर लेने का प्रयास किया। चीन ने इन गतिविधियों पर कोई प्रतिक्रिया नहीं जताई और लार्ड कर्जन ने यह निर्णय लिया कि उनकी खामोशी को उनकी मौन स्वीकृत माना जा सकता है और निश्चित कर दिया कि अब से इसे सीमा समझा जाए और ऐसा ही हुआ। दिलचस्प रूप से यह रेखा पूरी तरह चीनी अधिकार रेखा से मेल खाती है और जो बदले में वास्तविक नियंत्रण रेखा के बिल्कुल समान है।

लेकिन 1940-41 में परिस्थितियाँ फिर से बदलने लगीं। ब्रिटिश खुफिया विभाग को पता चला कि युद्ध नेता शेंग शीह-साई की पूर्व-सोवियत सिन्कियांग सरकार के लिए रूसी विशेषज्ञ अकसाई चीन का सर्वेक्षण कर रहे थे। निस्संदेह एक बड़ी बाजी खेलने के समय फिर से आ गया था। एक बार फिर ब्रिटिश जॉनसन दावा रेखा तक पीछे लौट गये। लेकिन स्पष्ट रूप से सीमा निर्धारित करने के लिए और कुछ नहीं किया गया। आकसाई चीन में कोई चौकी नहीं स्थापित की गयी थी और न ही वहाँ झंडा दिखाने के लिए कोई दल भेजे गये जैसा कि ऐसी परिस्थितियों में आमतौर पर होता था। सारे वास्तविक प्रयोजनों के लिए काराकोरम श्रेणी में राज समाप्त हो गया लेकिन बड़े खेल के नियमों के द्वारा यह बहुत आगे तक गया, इस मुद्दे से भी आगे तक.....।

पूर्वी भाग में भी यह खेला गया लेकिन थोड़े अलग ढंग से। 1826 में ब्रिटिश ने असम पर कब्जा कर लिया, जिसका अर्थ उस समय ब्रह्मपुत्र घाटी होता था। घाटी में पहली पैठ 1886 में हुई जब वर्तमान अरुणाचल प्रदेश के दूसरे छोर पर स्थित लोहित घाटी तक अभियान पहुँच गया। लेकिन भूटान के ठीक पूर्व के इस भाग के पश्चिमी छोर पर तवांग भूभाग के नाम से जाना जाने वाला

तिब्बत शासित क्षेत्र भूटान के पूर्वी क्षेत्र के बगल से, इसके दक्षिणी सीध तक आ रहा था और बोमडिला के ठीक पश्चिम तक फैला था जो ब्रिटिशों द्वारा खुला प्रदेश माना जा रहा था।

1903 में लार्ड कर्जन ने यह निर्णय कर लिया कि अब तिब्बत रूसी आक्रमण के लिए संभावित आधार हो गया है और बड़े खेल के नियमों के तहत रूसियों को पहले ही हटा देना चाहिए। इस तरह बाद के वर्षों में लहासा का प्रख्यात यंग्गुस्बन्द मिशन आया। लेकिन 1907 में अंग्रेजों और रूसियों में एक समझौता हुआ कि तिब्बत को छोड़ देना दोनों के लिए हितकर रहेगा ("यह समझौता उस अलग-अलग राज्य के लिए था जिसको हल के समय तक खाली करने का उनका कोई इरादा नहीं था") इस तरह अफगानिस्तान की तरह तिब्बत को भी दो यूरोपीय साम्राज्यादी शक्तियों के बीच एक मध्यवर्ती राज्य बनना था। लेकिन 1910 के मध्य तक चीनी पूर्ण नियंत्रण के साथ तिब्बत में वापस आ चुके थे। चीनी शक्ति का यह पुनः दावा ब्रिटिश हुकूमत के लिए कए बार फिर चिन्ता का कारण बन गया। इसके परिणामस्वरूप असम में बहुमूल्य ब्रिटिश निवेश और चीन के बीच एक मध्यवर्ती की आवश्यकता ने फिर से जन्म ले लिया।

अब एक और अग्ररेखा चर्चा में आ गयी। यह रेखा बाहरी रेखा कहलाती थी और तवाङ्ग क्षेत्र को छोड़कर सम्पूर्ण जनजातीय क्षेत्र को सम्मिलित करती थी। यद्यपि उस समय के वायसराय लार्ड हाकिन्ग को शुरुआत में यह काफी जोखिम और खर्च वाला कार्य लगा फिर भी 1911 में चीनी विस्तार नीति का हवाला देकर उन्होंने "एक दृढ़ सामरिक सीमा" की स्थापना का आदेश दिया। इस प्रकार सितम्बर 1911 तक ब्रिटिश सरकार ने यह निर्णय कर लिया था कि अब तवांग प्रदेश को शामिल करते हुए बाहरी रेखा को चीन अधिकृत तिब्बत की सीमा माना जाना चाहिए।

ब्रिटिश और सोवियत साम्राज्य के ढह जाने के बाद इस घिनौने औ कभी-कभी खूनी खेल के एक मात्र उत्तराधिकारी भारत और चीन हैं। दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि अब यह यूरोप में अपने गुप्त जासूस, मानचित्रकार, व्यापारी और दुस्साहसियों के चयन के साथ साम्राज्य निर्माताओं का खेल नहीं रहा बल्कि तेजी से विकासरत अर्थव्यवस्था वाले विश्व के दो सबसे बड़े राष्ट्रों के बीच का भयानक गंभीर खेल हो गया और विश्व की दो बड़ी सैनिक शक्तियों ने प्रकट रूप से आण्विक हथियारों को फैलाकर स्थिति को और भयानक बना दिया। उपलब्धि अब एक पूर्ण उप-महादेश नहीं रहा बल्कि टंडी हवाओं वाले पर्वत क्षेत्रों के बीच महज एक बंजर और उजाड़ मरुस्थल रह गया है जहाँ, जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में "घास की एक पत्ती भी नहीं उगती है"।

## II

### भारत की सीमा समस्या

चीन और तिब्बत के साथ संबंधों में बड़ा बदलाव तब आया जब ब्रिटिश सरकार ने अक्टूबर 1913 में शिमला में एक सम्मेलन बुलाया। चीनी इसमें निष्ठापूर्वक शामिल हुए लेकिन तिब्बती अधिकारी काफी उत्सुकता से शामिल हुए क्योंकि उनका अब अपने चीनी अधिपतियों से संघर्ष चल रहा था। "भारत सरकार" के सचिव हेनरी मैकमोहन ने ब्रिटिश प्रतिनिधि-मंडल का नेतृत्व किया। उत्तरी पश्चिमी सीमा के रूप में डूरन्ड रेखा को निर्धारित करने में दो वर्ष बिताने के बाद मनमोहन एक तरह से सीमा रेखा निर्धारित के विशेषज्ञ हो गये थे।

वह सीमा रेखा अब मैकमोहन रेखा के नाम से प्रसिद्ध है। यह सीमा अब ब्रिटिश भारत से लेकर तिब्बत पठार के छोर तक फैल गयी। वास्तव में यह एक मानचित्रकार की खींची रेखा नहीं थी क्योंकि इसने सीमा निर्धारण के बहुत से नियमों का उल्लंघन किया। लेकिन, इस अभिप्राय से कि तवाङ्ग भूभाग को छोड़कर यह पूरा क्षेत्र स्वभावतः तिब्बती नहीं था, यह एक मानवजातीय रेखा थी।

जैसी भी हो, चीन ने शीघ्र ही शिमला समझौता और इस तरह मैकमोहन रेखा को मानने से इन्कार कर दिया। इस पूरे काल में ब्रिटिश सरकार ने कभी भी तिब्बत पर चीन के अधिपत्य को चुनौती नहीं दिया। नयी सीमा रेखा तबतक प्रभावी नहीं हो सकी जबतक कि 1935 में एक ICS अधिकारी ओल्फ केरो ने ब्रिटिश अधिकारियों से ऐसा करने का अनुरोध नहीं किया। इस प्रकार 1937 में भारतीय सर्वेक्षण (विभाग) ने पहली बार मैकमोहन रेखा को अधिकरिक सीमा के रूप में दिखाया। लेकिन भ्रम अभी तक बरकरार है।

1938 में भारतीय सर्वेक्षण ने तिब्बत का एक मानचित्र प्रकाशित किया जो तवाङ्ग प्रान्त को उस देश का भाग दर्शाता था। यहाँ तक की जवाहर लाल नेहरू के "डिस्कवरी ऑफ इंडिया" के प्रथम संस्करण में भी भारत-तिब्बत सीमा को पहाड़ियों के नीचे से गुजरता दिखाया गया था। जैसे भी हो, तिब्बत ने तवांग प्रान्त के इस अनुबंध को स्वीकार नहीं किया और इस क्षेत्र में ब्रिटिश सरकार के प्रभाव बढ़ाने के प्रयास को चुनौती दी। फिर भी उन्होंने बाकी की मैकमोहन सीमा निर्धारण को मौन सहमति दे दी। जैसे भी हो, यह स्पष्ट है कि तवांग क्षेत्र के अलावा पूरे अरुणाचल प्रदेश पर

चीनी दावे का कोई आधार नजर आता था क्योंकि यह भारत से भौगोलिक रूप से पहले से जुड़ा था। और उसके सुरक्षा हितों के लिए उपयुक्त न था। द्वितीय विश्वयुद्ध में भारत की तरफ बढ़ते जापानी आक्रमण ने इस सीमा को सुदृढ़ और सुरक्षित रूप से स्थायी बनाने की जरूरत को ब्रिटिशों के लिए अनिवार्य कर दिया। इस प्रकार 1944 में जनजातीय मामले के सरकार के परामर्शदाता जे. पी. ने उस पूरे क्षेत्र में पूरब में वालोडगा से लेकर पश्चिम में डिरडग जोडग तक एक ब्रिटिश प्रशासन स्थापित कर दिया। असम राइफल्स की कई चौकियाँ स्थापित हो गयीं और शीघ्र ही तिब्बत के सरकारी अधिकारियों को भी तवांग क्षेत्र से बाहर निकलना पड़ा।

जब अंग्रेज भारत से गये, तब यह बड़े खेल का राज्य था। 1949 में चीन में साम्यवादियों की सरकार बनी और उसके तुरंत बाद पिपुल्स रिपब्लिक ने यह घोषणा की कि इसकी सेना तिब्बत में प्रवेश करेगी। भारत ने इस पर अपनी प्रतिक्रिया में चीन को एक राजनयिक पत्र भेजा। इस आवेशयुक्त विरोधी पत्र के प्राप्त होने के तुरंत बाद चीन ने तिब्बत पर कब्जा कर लिया। चीन का कहना था "तिब्बत चीन का एक अविभाज्य हिस्सा है और तिब्बत की समस्या चीन की घरेलू समस्या है। चीन पिपुल्स लिवरेशन आर्मी को तिब्बत में कराना चाहिए, तिब्बत के लोगों को स्वतंत्र कराना चाहिए और चीन की सरहदों की सुरक्षा करनी चाहिए"। भारत में उम्मीद की थी कि फारमोसा पर कुमिन्ताङ्ग चीनी वामपंथी की जगह संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन की समस्या का समर्थन करने का प्रस्ताव देकर उसे तिब्बत छोड़ देने के लिए राजी कर लेगा। चीन ने इस बेतुके सौदे को अस्वीकार कर दिया और कहा कि इन दोनों मुद्दों का एक दूसरे से कोई संबंध नहीं है।

इस बड़े खेल की लगभग डेढ़ सौ साल पुरानी घटनाओं के इस श्रमसाध्य विवरण को प्रस्तुत करने का एक मात्र उद्देश्य यह दिखाना है कि सीमाएँ कभी भी स्पष्ट रूप से निर्धारित या स्थापित नहीं की गयी थीं। राजनीतिक अनिश्चिताओं के साथ-साथ रेखाएँ मानचित्र पर बदलती रहीं। इस पूरे काल के दौरान भारतीय जनता इन मानचित्र संबंधी खेलों का निष्क्रिय दर्शक बनी रही।

लेकिन 1947 में आखिरकार अंग्रेजों ने भारत छोड़ दिया। तब हमारे पास विकल्प था कि या तो हम इसे बड़े खेल को खत्म कर दें या इसके लिए आवश्यक प्रतिबद्धता और प्रबलता से इसे खेलना जारी रखें। हमने दोनों में से कोई नहीं किया। जब चीनी साम्यवादियों ने तिब्बत पर कब्जा कर लिया तो हमने चुपचाप स्वीकार कर लिया। और न ही हम ब्रिटिश हुकूमत द्वारा भारतीय प्रदेश के अंग के रूप में चिन्हित किये गये क्षेत्रों विशेषकर पश्चिमी भाग में दृढ़ता से रह सके। हम अपने

क्षेत्र का दावा करने वाले प्रदेशों को देख भाल कैसे करते थे यह इस तथ्य से प्रमाणित हो जाता है कि 1950 की शुरुआत में चीन ने तिब्बत से अकसाई चीन होते हुए सिन्कियांग तक एक सड़क बना ली और हमें इसके बारे में कई वर्षों तक एक सुराग भी नहीं मिला। फिर भी भारत सरकार ने 1951 में चीनी/तिब्बत विरोध कुचलने के लिए तवांग क्षेत्र में सैनिक कार्रवाई शुरू की। कम से कम इस भाग में यह स्पष्ट था कि ब्रिटिश सरकार द्वारा दावा किये गये सरे क्षेत्रों को अपने नियंत्रण में रखने के लिए भारत सरकार दृढ़ थी। ऐसा प्रतीत होता है कि चीन ने भी अब इस प्रान्त में मैकमोहन रेखा को सीमा के रूप में स्वीकार कर लिया था क्योंकि इस बात के कई संकेत मिले हैं।

जैसे भी हो पश्चिमी भाग में परिस्थितियाँ पूरी तरह भिन्न थीं। यहाँ कोई निश्चित ब्रिटिश भारतीय रेखा नहीं थी। दोनों पक्षों द्वारा केवल दो बातें स्वीकार की गयी थी कि इस क्षेत्र के पश्चिमी और पूर्वी छोर, काराकोरम मार्ग और डेमचक भारतीय अधिकार में थे। यह रेखा दोनों जगहों के बीच कैसे गुजरे, इस पर मतभेद था।

भारत की सीमा जॉनसन निर्मित रेखा की तरफ झुकी थी जबकि अकसाई चीन से होकर सड़क बना लेने के बाद चीन ने स्वभावतः 1899 की मैककार्टनी/मैकडोनाल्ड रेखा के नजदीक की रेखा को महत्व दिया। फिर भी चीनी अधिकार रेखा पश्चिम में काफी आगे तक चली गयी और इसने लिप चैप घाटी, सैमजन्गलिंग, कोडगका ला, खुरनक किला और जारा ला को सम्मिलित कर लिय। महत्वपूर्ण बात यह है कि जबतक बड़ा खेल जारी रहा पानी 1950 के शुरुआत तक इस पूरे क्षेत्र पर चीन का कब्जा रहा।

यह दर्शाता है कि 1952 तक स्थितियाँ कैसी थीं और आज स्थितियाँ कैसी हैं, लद्दाख में अपनी दावा रेखा तक के पूरे क्षेत्र पर अनुमानतः चीन का कब्जा था, और पूर्व में मैकमोहन रेखा के नीचे के अधिकांश भाग पर भारत का कब्जा था, इस अनुमान में थोड़ी बहुत त्रुटियाँ हो सकती हैं। वास्तव में ये सिमाएँ हमारी सीमाओं के स्थायी व्यवस्थापन का एक आधार हो सकती थीं। लेकिन हमने इसे नहीं माना यद्यपि समय-समय पर इसके संकेत मिलते रहे कि चीन इस आधार पर समझौता कर सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि : भारत सरकार ने पूर्वी क्षेत्र की तरह पश्चिमी क्षेत्र में दावा की गयी सीमाओं पर नियंत्रण क्यों नहीं किया ? यह मुख्यतः क्षेत्र के कारण था। दावा की गयी सीमा दो ऊँची पर्वत श्रेणियों के पार थी और कार्रवाई तथा आपूर्ति के लिए दुःसाध्य थी तथा सामरिक रूप से अरक्षणीय थी। इसके अलावा 1951 तक चीन का पहले से ही अधिकतर भागों पर कब्जो हो चुका था। तब प्रश्न यह है कि : उन क्षेत्रों पर अपना दावा बनाए रखने के लिए भारत सरकार ने गंभीर कूटनीतिक या सैनिक प्रयास क्यों नहीं किया जिन्हें यह अपना समझती थी। निश्चय ही जवाब इस तथ्य में निहित है इन क्षेत्रों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी और इस बंजर, निर्जन, तेज हवाओं के कारण उजाड़ क्षेत्र के लिए भारी सैनिक खर्च उठाना एक लाभदायक सौदा नहीं था। इन सबके बावजूद वहाँ उत्साही चेतना प्रचुर मात्रा में जागृत हुई जिससे हाल ही में स्वतंत्र हुए राजा उन वंशागत सीमाओं का सम्मान करते थे जिनका अक्सर कोई भौगोलिक, जातीय और ऐतिहासिक आधार नहीं होता था। यहाँ तक कि 1954 में भी भारत को सबसे विकसित चौकी चुशुल में थी और लानक-ला के दो गश्तों को छोड़कर नया झण्डा दिखाने का कोई प्रयास नहीं किया गया। लानक ला अकसाई चीन के भी काफी दक्षिण में है और सिकियांग तिब्बत मुख्यमार्ग से थोड़ी दूरी पर है जो उस जगह पर इसके पूरब से होकर गुजरता है।

पिछले 150 सालों तक इस खेल का मुख्य नियम था कि इसे शान्ति से और जितना संभव हो सके उतनी चोरी से खेला जाना चाहिए। ऐसा लगता है कि 1950 में भी ये नियम हावी थे और दो प्रतियोगी सरकारों ने समस्या पर मौन धारण किये रखा जबकि स्थानीय लाभों के लिए छल-कपट करते रहे। धरातल पर तो हिन्दी-चीनी भाई-भाई और पंचशील दर्शन का प्रयोग होता था लेकिन भीतर-भीतर क्षेत्र के बड़े भू-भाग पर कब्जा करने के लिए दोनों गुटों के नियंत्रण में लड़ाई चल नहीं थी। यह भेद तब खुला जब मार्च 1959 में दलाई लामा भारत भाग आये और भारत ने उन्हें राजनीतिक शरण दी।

### III

#### क्या हम ऐसा कर सकते हैं ?

दलाई लामा की भारत आगमन के बाद दो अप्रिय घटनाएँ घटी। पूर्वी भाग के छोटे से गाँव लोन्गजू पर अधिकार को लेकर 25 अगस्त 1959 को भारतीय और फौजें लड़ बैठी। हमारा कहना

था कि यह मैकमोहन रेखा पर है इसलिए हमारा है और चीन का कहना था कि यह इससे 2 मील उत्तर में है इसलिए उनका है। दोनों तरफ के कुछ सैनिक मारे गए। उसी वर्ष 20 अक्टूबर को अकसाई चीन में जाँच के लिए गयी एक भारतीय गश्त टुकड़ी पर चीन ने घात लगा कर हमला कर दिया जिसमें सीमा सुरक्षा दल के नौजवान शहीद हुए और सात बन्दी बना लिए गये। इसके बाद भारतीय जनता भड़क उठी। एक लोकतंत्र का अर्थ होता है एक ऐसी सरकार जो जनता के मत के प्रति संवेदनशील हो और जो सरकारें इसकी उपेक्षा करती हैं वे खुद को जाखिम में डालती हैं। लेकिन जनता की राय उत्तेजित न हो तो भी अक्सर गलत ढंग से देखी जाती हैं। ज्यादातर नेता वास्तव में इस झगड़े की ऐतिहासिक आधार को समझ ही नहीं सके।

हम दावा करते हैं कि चीन जिसका दावा कर रहा था और जिस पर कब्जा जमा रहा था वह हमारी "पवित्र भूमि" थी और इसे मताग्रही मार्क्सवादी कम्युनिस्टों के अलावा लगभग सबने स्वीकार किया जिन्होंने संभवतः इसे कुछ कारणों से किया जिनमें से अधिकांश का संबंध इतिहास से नहीं है। भारत सरकार यह अच्छी तरह जानती थी लेकिन जनता के उत्तेजित विचारों के प्रति उदासीन बनी रही और अगर सच कहें तो यहाँ लोकतंत्र का एक बड़ा खेला खेला गया, यहाँ तक कि विपक्ष ने भी इसे सामने लाने के लिए कुछ नहीं किया।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीत में लोकतांत्रिक देशों के आन्तरिक आदेशों के प्रभाव को कम नहीं आंका जाना चाहिए। लोकतांत्रिक समाजों की एक स्वाभाविक विशेषता यह भी है कि निर्णयकर्ताओं को विकल्पों के एक बड़े समूह (स्पेक्ट्रम) में से नीतियाँ चुनने के लिए बहुत थोड़ी छूट मिलती है। उदाहरण के लिए अगर नेहरू लेन-देन के आधार पर समझौता करने के चाउ-एन-लाई के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते हो उन्हें हमारी "पवित्र" भूमि देने का दोषी बनना पड़ता। जैसा कि नेहरू की असफल चीनी नीति पर उनकी पराजय, और वास्तविक राजनीति में संसार के मुख्य कर्ता के साथ हिन्दी-चीनी भाई-भाई और पंचशील पर उनके नासमझी भरे विश्वास से विपक्षी लाभ उठा रहे थे।

अत्यन्त अन्धभक्त वातावरण में जो उस समय की हमारी राजनीत की विशेषता थी और आज भी है विपक्ष को सरकार को नीचा दिखाने के लिए या सरकार को विपक्ष को नीचा दिखाने के लिए कोई भी कारण पर्याप्त था। यद्यपि उस समय कम संख्या में रही विपक्ष ने संख्या की कमी को योग्यता से पूरा किया। राम मनोहर लोहिया, आचार्य कृपलानी, अशोक मेहता, दिनदयाल उपाध्याय, मीनू मसारी और सी. राजगोपालाचारी जैसे प्रतिष्ठित नेता जो अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और ताकपदुता के

लिए जाने जाते थे वे सभी सरकार के भीतर संसद में और बाहर अपने असंगत चुनावी दुःखों पर सी खीझ रहे थे। अटल बिहारी वाजपेयी की तरह कुछ अन्य अपने उग्र भाषणों से जनता को उत्तेजित करने के लिए जाने जाते थे।

नेहरू के “अहंकार” और कृष्ण मेनन के प्रति उनके अनुराग से परेशान उनके बहुमत से सहयोगी अक्सर मूक दर्शक बनकर इन तीक्ष्ण आक्रमणों का आनन्द उठाना पसंद करते थे। चीन समस्या को नेहरू की समस्या माना जाता था। उनके साथ प्रिय व्यवहार रखने के लिए नेहरू नें काफी समय तक चीन की समस्या को अपने तक सीमित रखा जैसा कि वो बाहरी संबंधों से जुड़े अधिकतर मामलों के साथ करते थे। संसद में इस असुविधाजनक स्थिति से पार पाने के लिए नेहरू को प्रायः सख्त और हठीला बनना पड़ता था। अगर सेना उनका समर्थन करती तो स्थिति अच्छी होती। लेकिन देश का दुर्भाग्य कि ऐसा नहीं हुआ था।

उस समय भारतीय सेना के पास बहुत घटिया हथियार थे, सैनिक कम थे और सामान्यतः सुनियोजित नहीं थे। सुरक्षा मंत्री कृष्ण मेनन नें जनरलों से सरेआम तूतू-मैमै की और साहसपूर्वक निर्लज्जता दिखाते हुए भयानक तवाही लाए। उनका सहयोग करने वाले नेहरू के रिस्तेदार लेफ्टीनेंट जनरल बी.एम. कौल थे जिनको युद्ध का कोई अनुभव नहीं था और आदेश देने में अपने समकक्षों से एक कदम आगे थे तथा सामान्य कर्मचारियों के सुझावों को दर किनार कर राजनेताओं की इच्छानुसार कार्य करने को तैयार हो जाते थे।

उन मुश्किल, दिनों में प्रेस भी मददगार नहीं था। मुख्य अंग्रेजी समाचारपत्र लगभग एक स्वर में तेज आवाज में माँग करते थे कि चीनीयों को बाहर खदेड़ा जाए और सरकार को अपना कर्तव्य न पूरा करने के लिए प्रायः दोषी ठहराते थे। कुछ प्रमुख अपवादों के साथ प्रभावी अंग्रेजी मीडिया अभी भी अपने ब्रिटिश समर्थक अतीत द्वारा संचालित होने के कारण सामान्यतः पाश्चात्य समर्थक थी और इस तरह सरकार की गुटनिरपेक्ष नीतियों को डलेशियन के संदर्भ में सोवियत समर्थन की तरह देखती थी और उन्हें इसके लिए सरकार की आलोचना करने का यह अच्छा अवसर था। नेहरू की गुटनिरपेक्ष नीतियों से संपादक और पंडित कभी भी प्रसन्न नहीं थे और उनपर बड़े उत्साह और उत्तेजना से आक्रमण करते थे। इस माहौल को देखते हुए अन्धभक्त राजनीतिक हित ने राष्ट्र हित पर वरीयता पाली। यह आज भी समाप्त नहीं हुआ है। तथ्यों और घटनाओं के विवेकपूर्ण सर्वेक्षण

के आधार पर राष्ट्रीय सामंजस्य को विकसित करने की ज़रूरत को कभी महत्व नहीं दिया गया, जो आज भी उसी रूप में दिखता है जिस रूप में तब था।

इस भीतरी दबावों के विरोध में नेहरू को कुछ नीतियों के साथ सामने आना पड़ा। यह कुछ आगे की नीति थी। इस नीति के द्वारा ही विवादास्पद क्षेत्रों में उद्यत चौकियों वाली चीनी रेखा के पीछे चौकियाँ स्थापित की गयीं। इस तरह अपर्याप्त संसाधनों, घटिया संचार व्यवस्था और अत्यधिक असुरक्षित आपूर्ति तंत्र के साथ कुछ समान गिराकर होती थी और आपूर्ति का एक अच्छा भाग चीनी हाथों में चला जाता था और अक्सर मनोवैज्ञानिक लाभ प्राप्त करने के लिए PLA इनको हमारे सैनिकों को सौंप देते थे।

एक भारतीय सैन्य अधिकारी के कथन से बेहतर फारवर्ड नीति की व्याख्या नहीं हो सकती जिसका कहना था "हमने सोचा कि यह एक प्रकार का खेल था। वे एक चौकी खड़ी करते और हम भी एक चौकी खड़ी कर देते और हमें नहीं लगता था कि इससे अधिक कुछ और होगा"। इसे अधिक बहुत कुछ हुआ जैसा कि होना था और परिणाम 1962 को सरकार में सामने आए जब बड़े पैमाने पर सीमा टूट गयी। फारवर्ड नीति पूरी तरह सैन्य सलाहों के विपरीत थी।

उत्तरी कमांड के जी.ओ.सी. लेफ्टीनेंट जनरल दौलत सिंह ने 17 अगस्त 1962 को सरकार को दिये विज्ञप्ति में इस नीति की कड़ी आलोचना की उन्होंने लिखा था "यह आवश्यक है कि राजनीतिक निर्देश सैन्य साधनों पर आधारित होने चाहिए"। दूसरे कई उच्च अधिकारियों की तरह दौलत सिंह की चेतावनी को भी नजरअंदाज कर दिया गया। केवल रक्षा मंत्री कृष्ण मेनन, गुप्तचर विभाग के अध्यक्ष बी.एन.मलिक और लेफ्टीनेंट जनरल वी.एन.कौल की बात ही नेहरू सुनते थे जिन्होंने मिलकर इस नीति को तैयार किया था और इन्ही लोगों का कहना महत्वपूर्ण था। अगर नेहरू ने जान केनेडी के नये अमेरिकी प्रशासन के 1961 की बहुचर्चित 'वे ऑफ पिग्स' की असफलता से थोड़ी बहुत भी सीख ली होती तो वो इस तिकड़ी के प्रति सजग रहे होते।

केनेडी के मामला यह था कि उसने सी.आई.ए. संचालन के निदेशक विख्यात रिचर्ड विशेल को अधिकार दे दिया और उसने उन्हें, उनके मंत्रिमण्डल और उनके सैन्य प्रमुख को एक ऐसी कार्रवाई का समर्थन करने के लिए मजबूर कर दिया जो समझदारी पर कम और काल्पनिक विचारों पर अधिक आधारित था। केनेडी के मामले में भी आन्तरिक दबाव बहुत भारी था। कार्रवाई की

योजना आइजेनहावर के समय से ही शुरू हो गयी थी और रिचर्ड निक्खन ने इसमें प्रमुख भूमिका निभाई थी। अगर केनेडी इस योजना को निष्फल कर देते तो उनके उपर "कम्युनिस्टों के साथ नरमी बरतने" के दोषी बन जाते और "आजादी और स्वतंत्रता" के उस गढ़ में इससे बड़ा अपराध और क्या हो सकता था ? ये उत्तेजित जनता के विचारों से परास्त हो गये जैसा कि नेहरू को बाद में होना पड़ा। दोनों परिस्थितियों में इन नीतियों का अन्त एक ऐसे संकट के रूप में हुआ जिसे सुधारा नहीं जा सकता था। जिससे परिस्थितियाँ इतनी उलझ गयीं कि उन्हें सुलझाया नहीं जा सकता था और इस तरह इन नीतियों ने राष्ट्रीय भविष्य की भावी दिशा और धरेलू राजनीति को खराब किया। संयोगवश "चीनीयों को बाहर निकालने" का आदेश 22 सितंबर 1962 को सुरक्षा मंत्रालय में राज्यमंत्री के. रघुरमैया के द्वारा दिया गया। जब सेना प्रमुख जनरल के.एन.थापर ने धोला क्षेत्र की स्थिति पर सहमति दी तब रघुरमैया कुर्सी पर विराजमान थे और कृष्ण मेनन न्यूयार्क में अपने पसंदीदा भाषणों में से एक और लम्बा चौड़ा भाषण दे रहे थे। विदेश सचिव ने यह स्वीकार किया कि चीनी बड़े रूप में प्रतिक्रिया के इच्छुक नहीं थे, और उस विषय पर अच्छी कार्रवाइयों के कारण उन्होंने प्रधानमंत्री के "निर्देशों" को पुनः दोहराया। और इस तरह हम युद्ध में शामिल हो गये।

1962 की त्रासदी के बाद के चालीस वर्षों में बहुत कम ही परिवर्तन हुआ है। हम भारत में अब भी ऐसे संकटकालीन मुद्दों पर एक पूर्ण एकमत विचारों के साथ खड़े होने में समर्थ नहीं हैं। ऐसा लगता है कि अब भी हम सरहदी झगड़ों की वास्तविक और तुच्छ प्रवृत्ति को नहीं समझ सके हैं। अपेक्षाकृत कम भूमि क्षेत्र के साथ अत्यधिक जनसंख्या और अत्यधिक भीड़ वाले तथा कृषिप्रधान देश के लिए भूमि के मोह और चिन्ता को समझा जा सकता है। जमीन हमारा प्राथमिक आर्थिक संसाधन है और इसलिए भूमि के प्रति दीवानगी का हाकना एक स्थायी राष्ट्रीय चरित्र है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि भूमि हथियाने के तरीकों के लिए कुख्यात हमारे नेताओं ने पूरे क्षेत्र में भूसम्पत्ति दलाल की मानसिकता बना ली है। ऐसा मालूम होता है कि हमारे लिए देश का अर्थ अब जनता नहीं भूमि हो गया है। अन्यथा हम अपनी जनता के हित और सम्मान पर इतना कम ध्यान क्यों देते और एक निर्जन मरुस्थल के लिए इतने अधिक चिन्तित क्यों होते ?

यद्यपि स्पष्ट रूप से निर्धारित मैकमोहन रेखा के आधार पर चीन के साथ पूर्वी सीमा झगड़ा सुलझाना हमारे लिए संभव है फिर भी इसके अवसर कम या नहीं ही दिखते हैं कि चीन अकसाई चीन को हमें सौपने के लिए तैयार होगा और इस तरह तिब्बत को सिन्कियांग से अलग किया जा

सकेगा। इसके आसार भी बहुत दूर तक नहीं दिखते हैं कि हम सैनिक कार्रवाई के द्वारा इसे चीन से वापस छीन सकेंगे। अगर हम राजनीतिक आकांक्षा को भाग्य आजमाने के लिए दांव पर लगाते भी हैं तो किसी भी ठोस लाभ (भौतिक या आध्यात्मिक) की शुद्ध कमी इसे केवल और अधिक मुख्रतावूर्ण बना देगी।

इस बात के कई संकेत हैं कि चीन इन रेखाओं के समानान्तर समझौता कर सकता है। भारत में हम अब भी भूतकाल (की घटनाओं) के गुलाम बने हुए दिखते हैं और भूतकाल की घटनाओं तथा वर्तमान विरासत के प्रति अति रूढ़िवादी दृष्टिकोण बनाए हुए हैं। हमने अपने आप को उद्धत राष्ट्रवादी और अवास्तविकता संसदीय संकल्प की गाँठ में बाँध लिया है। हमें वसीयत में अनिर्धारित सीमा और अधिकृत भूमि की "आजादी" मिली है जो इतनी निर्जन और बंजर है कि जन्तु के जीवन को तो छोड़ दें यहाँ पौधों का उगना भी कठिन है। इस मानसिकता से खुद को आजाद करके ही हम अर्थपूर्ण तरीके से चीन के साथ बातचीत द्वारा समझौता कर सकते हैं, जिसका मुख्य उद्देश्य इस क्षेत्र में अकसाई चीन से होकर जाने वाले सिन्कियांग-तिब्बत मुख्यमार्ग को सुरक्षित करना मालूम होता है। यद्यपि यह दोनों देशों के बीच की प्रतिस्पर्धा को पूरी तरह समाप्त नहीं कर देगा लेकिन यह निरन्तर होने वाले तनाव के एक कारण को हटा देगा जो केवल हमारी प्रतिकूल सामरिक स्थिति को रेखांकित करता है।

अब हमारे राष्ट्रीय नेतृत्व के सामने के संवेदना के साथ वास्तविकता, अनैतिहासिक विश्वास के साथ तत्यात्मकता और साम्राज्यवादी उत्तराधिकार के साथ राष्ट्रीय अभिलाषा को एक साथ साधने की चुनौती है। ऐसा करने में सक्षम होने के लिए हमें सबसे पहले ऐसे संवेदनशील और गंभीर मुद्दों को अन्धभक्त राजनीति के घेरे से मुक्त करने की जरूरत है। इसका उत्तरदायित्व वर्तमान सरकार के उपर होना चाहिए क्योंकि केवल वही ऐसे कार्य को अंजाम दे सकती है। ऐसा करके हम एक बार फिर से सैन्य साधनों और यथार्थ को राजनीति उद्देश्यों के साथ लाकर खड़ा कर सकते हैं। तब हम एक मजबूत आधार के साथ बातचीत कर सकते हैं और खुद को कम से कम उत्तर में सुरक्षित, निश्चित एवं प्राकृतिक सीमा दे सकते हैं। और कौन जानता है, यही दो महान राष्ट्रों के बीच अच्छे संबंधों को स्थायीत्व प्रदान कर दे।

मोहन गुरुस्वामी

3515,Phase-4, DLF City,

GURGAON 122002.

[Email-mguru@satyam.net](mailto:Email-mguru@satyam.net) in

Phone: 124-5043766

Mobile: 9811305955